विज्ञान एवं अध्यात्म
का समन्वित स्वरूप

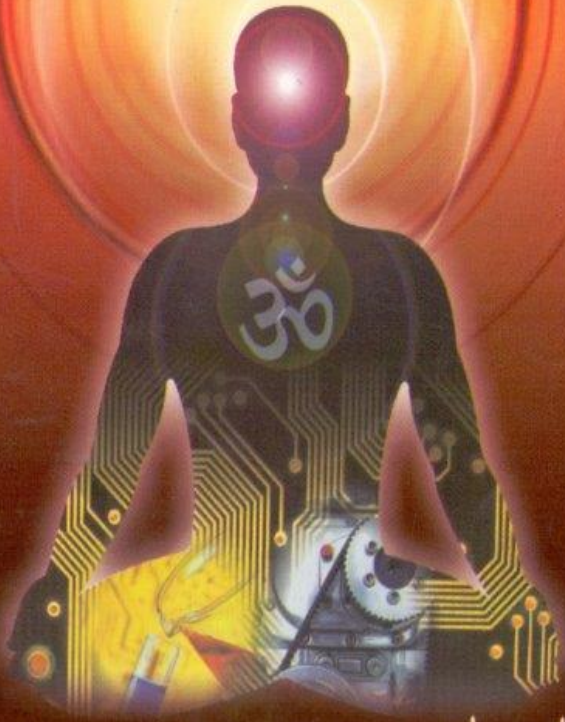

-पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

विज्ञान एवं अध्यात्म का समन्वित स्वरूप

लेखक:
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २००९ मूल्य ७.०० रु०

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक:
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनर्मुद्रित सन् २००९

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

अध्यात्म का स्वरूप और प्रयोजन

इस विश्व ब्रह्मांड में दो शक्ति-सत्ताएँ आच्छादित हैं। एक जड़ दूसरी चेतन। इन्हीं को प्रकृति और पुरुष भी कहते हैं। स्थूल और सूक्ष्म भी। इन दोनों का पृथक-पृथक अस्तित्व और महत्त्व है, पर सुयोग तभी बनता है जब वे एक-दूसरे की सहायक बनकर संयुक्त शक्ति के रूप में विकसित होतीं और अपने चमत्कार दिखाती हैं।

उदाहरण के लिए शरीर को ही लिया जाए। काया पंचतत्त्वों द्वारा विनिर्मित है। अंग-अवयवों में रक्त-मांस, तंतु-झिल्ली, अस्थि-मज्जा का मिलन-एकीकरण है। इसलिए उनसे इच्छानुरूप काम कराया जा सकता है। शरीर तंत्र की प्रकृति की करामात भी इसे कह सकते हैं। इतने पर भी वह अपूर्ण है। उसके भीतर एक चेतना काम करती है। उसी का अचेतन भाग श्वास-प्रश्वास, निमेष-उन्मेष, आकुंचन-प्रकुंचन, सुषुप्ति-जागृति आदि की व्यवस्था बनाता रहता है। उसी का दूसरा पक्ष है—सचेतन। जो सोचता, निर्णय करता और इच्छानुरूप कार्य करने का आदेश देकर अनेकानेक क्रिया-कृत्य संपन्न करता है।

जब तक जड़-चेतन का संयोग है, तभी तक प्राणी जीवित रहता है। दोनों के विलग हो जाने पर मृत्यु हो जाती है। मरा हुआ शरीर देखने में यथावत रहने पर भी सर्वथा निर्जीव हो जाता है। तेजी से सड़ने-गलने लगता है, ताकि उसके घटक पृथक-पृथक होकर अपनी मूल स्थिति में जा पहुँचें। निर्जीव शरीर बेकार है। शरीर रहित आत्मा अपना अस्तित्व भले ही बनाए रहता हो, पर उसका प्रकट परिचय देने तक की स्थिति में नहीं रहती। मरणोपरांत अदृश्य प्राण चेतना किस रूप में रहती है? पुनर्जन्म से पूर्व उसे किस स्थिति में कहाँ रहना पड़ता है? उसका केवल अनुमान ही लगाया जाता रहता है। कदाचित आत्मसत्ता कुछ अधिक सामर्थ्यवान रही होती तो उसने अपनी स्थिति पर ऐसा प्रकाश डाला होता जो हर किसी के लिए

मान्य होता, पर आदिकाल से लेकर अद्यावधि इस संबंध में कुछ सुनिश्चित तथा हस्तगत हो नहीं सका है। आत्माएँ भी अस्तित्व के रहते हुए शरीर साधन के बिना कुछ सुनिश्चित अभिव्यक्ति प्रकट नहीं कर पातीं। भूत-प्रेत के रूप में उनके सूक्ष्म शरीर की हरकतें ही यदा-कदा प्रकाश में आती हैं। इतने पर भी यह प्रमाण नहीं मिलता कि मरण से लेकर पुनर्जन्म तक की अवधि में उन्हें कहाँ किस प्रकार रहना पडा और क्या करना पड़ा। कोई अनुमान लगाया भी गया हो तो मतावलंबियों द्वारा अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित करने पर अनिश्चय की स्थिति फिर जैसी-की-तैसी बन जाती है। भूत-प्रेतों तक के संबंध में उन्हें प्रभावित व्यक्ति की प्रगाढ़ मान्यता कहकर उपेक्षित कर दिया जाता है।

अभिप्राय इतना भर है कि जड़ और चेतन का समन्वय ही कोई सार्थक स्थिति का निर्माण करता है, अन्यथा इस विशाल ब्रह्मांड में बिखरा पड़ा पदार्थ तत्त्व भी अपनी अस्त-व्यस्तता और कुरूपता का ही परिचय देता है। धरती पर ठोस रूप में, जलाशयों में द्रव रूप में और आकाश में वाष्पीभूत स्थिति में पदार्थ सत्ता बेतुके रूप में बिखरी पड़ी रहती है। थल प्रदेश, जिसके साथ मनुष्य का संपर्क सधा है वहाँ खड्डे-टीले जैसा ही कुछ अनगढ़ देखा पाया जाता है। वृक्ष-वनस्पति वहाँ हैं तो पर उनकी क्रमबद्धता कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। जलाशयों में समुद्र सबसे बड़ा है, पर वह इतना गहरा और खारा है कि उसका प्रयोग सर्वसाधारण के लिए किसी निमित्त उपयोग कर सकना संभव नहीं। आकाश में यों हवा का ही परिचय मिलता है, पर उन गैसों में भी विद्युत, एक्सरे जैसी सूर्य द्वारा उत्पादित किरणों की भरमार है। इसका स्व-संचालित कोई विशेष उपयोग नहीं, कभी-कभी उस क्षेत्र में भी आँधी-तूफान जैसे उद्दंड प्रकरण उभरते रहते हैं। मेघ मालाएँ घुमड़ने और बिजली चमकने जैसे कौतूहलवर्द्धक दृश्य तो सामने आते हैं, पर उनकी शक्ति सामर्थ्य का

ऐसा उपयोग नहीं बनता जिसे सराहा और उपयोगी कहा जा सके। कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि। यहाँ तक कि समुद्रों से उठे बादल समुद्र पर ही बरसकर अपने बेतुकेपन का परिचय देते हैं। थल, जल और नभ के क्षेत्र में यदि चेतना का हस्तक्षेप न हुआ होता तो यहाँ अभी भी लगभग वैसा ही दीख पड़ता जैसा अनादिकाल में किसी प्रकार विनिर्मित हुआ था।

कहने का तात्पर्य यह है कि जड़ और चेतन का संयोग ही सब प्रकार अभीष्ट है। जीवन यात्रा के सुसंचालन तक में चेतना की आवश्यकता पड़ती है, तभी वे सुंदर, सुव्यवस्थित और उपयोगी होने का प्रमाण परिचय दे पाते हैं। भूमि को समतल बनाकर घास किस्म की वनस्पतियों को अन्न के रूप में खाद्य का प्रमुख आधार बना देना मनुष्य का ही कौशल है। खेत और उद्यान अपने आप नहीं बन पड़ते, उनमें मनुष्य का समुचित श्रम और कौशल नियोजित होता है। बीजों और फलों को प्रस्तुत करने और उपयोग में लिए जाने की कला मनुष्य की अपनी वृत्ति है। जलाशय जहाँ-तहाँ होते हैं। धरती के भीतर भी पानी बहुत गहरा है, उसे दैनिक उपयोग में लाने के लिए घरों में संग्रह कर रखना मनुष्य का अपना कौशल है। आकाश में विद्यमान हवा और तापमान से संतुलित लाभ लेने के लिए मकान उसी ने बनाए हैं। तापमान की चिंगारी से लेकर ज्वाला में बदल लेने की क्रिया का श्रेय मनुष्य को है। यद्यपि अग्नि एवं बिजली का अस्तित्व अनादिकाल से सृष्टि परिकर में विद्यमान था, पर उसका उद्घाटन तो मनुष्य ने ही किया है और उन सबका विविध प्रयोजनों के लिए उपयोग कर सकने का कौशल उसी के पुरुषार्थ ने संभव कर दिखाया है।

ऊपर कुछ प्रारंभिक प्रत्यक्षीकरण और उत्पादनों की चर्चा है जिनमें यह बताना उद्देश्य है कि प्रकृति के ठोस, द्रव और व्यापक कलेवरों में शक्ति-सामर्थ्य कितनी ही क्यों न हो, पर उनका लाभ

लेना मानवी चेतना के कौशल पर ही निर्भर रहा है। आरंभिक काल से लेकर अब तक प्रकृति की शक्तियों का रहस्योद्घाटन, सुनियोजन और महत्त्वपूर्ण उपयोग बन पड़ना संभव बनाने वाली कुशलता का नाम ही विज्ञान है। इस चमत्कारी उपलब्धि को जड़-चेतन का समन्वय ही कह सकते हैं। इसी के बल पर वह प्रगति संभव हुई है। जिसके आधार पर इस धरातल पर सर्वत्र सुख-साधनों के अंबार खड़े हो गए हैं। उनके सहारे मनुष्य अपने को सर्वश्रेष्ठ, शक्ति संपन्न एवं धरातल का अधिष्ठाता बनाने का दावा करता देखा जाता है। यह दावा किसी सीमा तक सही भी है। वन्य पशुओं और मनुष्यों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर सहज ही जाना जा सकता है कि पदार्थ को सुनियोजित करने की क्षमता जिसे विज्ञान कहते हैं, कितना सशक्त-समर्थ और सुविधाओं से भरा-पूरा है।

पदार्थ की अपनी सवतंत्र सत्ता है। इसी प्रकार चेतना के भी स्रोत-उद्गम और कार्यक्षेत्र पृथक हैं। इस पृथकता के रहते हुए भी संसार इतना सुंदर और सुविधा-साधनों से भरा-पूरा बन सका, उसका श्रेय उस विज्ञान को ही दिया जा सकता है जिसे पदार्थ से लाभान्वित होने की कुशलता कहा जाता है। सामान्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य कहीं अधिक सुखी-समृद्ध है, यह तभी बन पड़ा जब विज्ञान का उद्भव करना और उससे लाभ उठाने की प्रक्रिया को अधिकाधिक सफलतापूर्वक संपन्न करना संभव हुआ।

इस मोटी जानकारी के उपरांत एक और भी बड़ी बात विचारणीय रह जाती है कि पदार्थ का उपयोग जानना ही पर्याप्त नहीं, उसका सदुपयोग भी समझा जाना चाहिए। यह विभाजन रेखा मात्र पदार्थ तक ही सीमित नहीं है, वरन स्वयं चेतना के अपने आपे पर भी लागू होती है। इन दोनों महाशक्तियों का यदि सदुपयोग न बन पड़े तो फिर दूसरा पक्ष दुरुपयोग ही रह जाता है। विज्ञान को शक्ति और साधन उत्पन्न करने का श्रेय तो है, पर वह स्वयं इस स्थिति में नहीं है कि

सदुपयोग और दुरुपयोग का अंतर कर सके। देखा गया है कि तात्कालिक लाभ की संकीर्णता प्राय: ऐसे सघन आवरण से भरी-पूरी होती है कि उसे दूरवर्ती परिणामों की समझ-बूझ प्राय: नहीं के बराबर होती है । इसलिए प्रलोभनों, आकर्षणों, लिप्साओं की प्रबलता उपलब्ध शक्तियों का दुरुपयोग करने के लिए ही घसीट ले जाती है। जाल में फँसने वाली चिड़िया, मछली का उदाहरण इस संदर्भ में प्राय: दिया जाता रहता है। चासनी में पंख फँसाकर प्राण गँवाने वाली मक्खी भी यही मूर्खता करती है। मनुष्यों में यह प्रचलन और भी अधिक है। जीभ का चटोरापन पेट खराब करने के उपरांत स्वास्थ्य का ही सफाया कर देता है। कामुकता के लिए आतुर लोग जीवनी शक्ति को निचोड़ डालते हैं। बिना परिश्रम बहुत बड़ी संपदा अर्जित कर लेने के फेर में अपराधी कुकर्मों की शृंखला चल पड़ती है। तनिक-सी स्फूर्ति पाने के लिए लोग नशेबाजी के कुचक्र में फँसकर एक प्रकार से अपंग-अपाहिज बनकर रह जाते हैं। वैभव का विपुल संचय तृष्णा कहलाता है। वासना के उपरांत तृष्णा ही पदार्थ संपदा का बुरे किस्म का दुरुपयोग है। इसी त्रिदोष में यह अहंकार भी है, जो दूसरों की दृष्टि में अपने को बड़ा सिद्ध करने के लिए ऐसे विचित्र आडंबर विनिर्मित करता है मानो वही सबसे सुंदर, बुद्धिमान, पराक्रमी और संपन्न हो। ठाट-बाट की खर्चीली साज-सज्जा इसी कुचक्र की प्रेरणा से खड़ी करनी पड़ती है। सस्ती वाहवाही लूटने के लिए नाम छपवाने, बड़े कहलाने के लिए ऐसी विडंबनाएँ रचनी पड़ती हैं, जो सर्वथा निस्सार होते हुए भी प्राणप्रिय लगती हैं।

संक्षेप में यही है पदार्थ संपदा का दुरुपयोग। इसे विज्ञान वैभव को अनर्थ के लिए नियोजित करना कह सकते हैं। पतन तात्कालिक लाभ की आतुरता के साथ जुड़ा हुआ है। आमतौर से यही किया और अपनाया जाता है। फलस्वरूप व्यक्ति अपने सुदूर भविष्य को अंधकारमय बनाता है। त्रास सहता है और आत्म प्रताड़ना के साथ-

साथ लोक-भर्त्सना का भाजन बनता है। इसकी रोकथाम समाज, शासन द्वारा जो यत्किंचित ही बन पड़ती है । उसे सहज क्रम में ढाला या लुभाया जा सकता है। मात्र एक ही रोकथाम का उपाय है— दूरदर्शी विवेकशीलता पर आधारित नीतिमत्ता, मानव गरिमा के साथ जुड़ी हुई उत्कृष्टता। इसी को तत्त्वदर्शन की भाषा में अध्यात्म कहा गया है।

पदार्थ से भी अधिक शक्तिवान है—चेतना। उसी का कौशल और चमत्कार है कि पदार्थ को अनगढ़ से सुघड़ स्थिति तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त हुई। फिर भी एक आश्चर्य और भी शेष रह जाता है कि विज्ञान की जन्मदात्री होने पर भी यह चेतना अपने आपके संबंध में भी कम दिग्भ्रांत नहीं रहती। अपने को भी अपने बुने मकड़जाल फँसाने और असाधारण संत्रास सहते रहने के लिए बाधित होती है। यह और भी जटिल स्थिति है। दूसरों के संबंध में समीक्षा करना सरल पड़ता है। दूसरों के रूप का भला-बुरा वर्णन किया जा सकता है, पर आत्मसमीक्षा कैसे बन पड़े? अपने प्रति पक्षपात भी रहता है और सर्वोत्तम होने का आग्रह भी। ऐसी दशा में दृष्टिकोण गड़बड़ाता है, कुकल्पनाएँ उठती हैं। अपने को सही सिद्ध करने वाले अनेकानेक तर्क साथ देते हैं। बुद्धि का निर्णय कभी तदनुरूप ही होता है, जैसा भी कुछ मानस बन गया है। स्वभाव में, रुझानों में, आदतों में प्राय: अनौचित्य का अंश ही अधिक देखा जाता है। पूर्व संचित कुसंस्कार और बहुसंख्यकों द्वारा अपनाया गया प्रचलन आमतौर से अपने चिंतन को तदनुरूप ढाल लेता है। अपनी मान्यता और आस्था में ऐसी विशेषता है कि वह दूसरों के सभी परामर्शों को निरस्त कर देने के साथ ही अपनी पूर्व संचित मान्यताओं को भी निरस्त कर देती है।

ऐसी दशा में यह कठिनाई भी सामने आती है कि अपना दृष्टिकोण उत्कृष्ट आदर्शवादिता के ढाँचे में कैसे ढले? व्यवहार में

ऐसी शालीनता का समावेश कैसे हो जिसे मानवी गरिमा के उपयुक्त कहा जा सके। जिसके आधार पर चरित्र और व्यवहार किस प्रकार ऐसा बन सके कि उपलब्ध साधनों का सदुपयोग बन पड़े? दूसरों के साथ सज्जनता के स्तर का शिष्टाचार निभ सके।

यह ध्यान में रखेन योग्य बात है कि लोग आदर्शों की बात का मौखिक समर्थन तो अपना बड़प्पन बघारने के लिए करते रहते हैं। वैसे धर्मोपदेश सुनकर उनके प्रति समर्थन भी व्यक्त कर देते हैं, पर मानते और करते वही रहते हैं जो पहले से ही मजबूती के साथ अपनी मान्यताओं में समाविष्ट कर रखा है। आत्मसुधार के क्षेत्र में यही भारी संकट है। उपदेश, परामर्श, शास्त्र उल्लेख, आप्त वचन जब कान, मस्तिष्क तक टकराकर ही बाहर निकल जाए और उसका प्रभाव अंतराल की गहराइयों तक न पहुँचे तो चेतना का परिष्कार किस आधार पर बन पड़े?

इस संदर्भ में एक ही आधार कारगर हो सका है और वह है आत्मसमीक्षा। निष्पक्ष भाव से कर सकने की क्षमता। आत्मसुधार और आत्मनिर्माण के लिए उभारा गया प्रचंड साहस। अपने आपे का सुधार परिष्कार उस आत्मबल के पक्षधर तत्त्वदर्शन के माध्यम से ही हो सकता है, जिसे पुरातन भाषा में 'अध्यात्म' कहते हैं। विज्ञान वैभव का सदुपयोग और आत्म चेतना का परिष्कार ये दोनों ही प्रयोजन जिस आधार पर सिद्ध हो सकें उसे एक शब्द में अध्यात्म कहा जाता है। उच्चस्तरीय तत्त्वदर्शन भी।

लोक व्यवहार में अध्यात्म और विज्ञान की दो पृथक धाराएँ बन गई हैं। दोनों ने अपने-अपने दुर्ग अलग-अलग खड़े कर लिए हैं। भ्रांतियाँ दोनों पर ही अपने-अपने ढंग की सवार हैं। वे जिस भी स्थिति में हैं अपने को पूर्ण मानकर चल रहे हैं। जिस प्रकार बँटे हुए आदम स्तर के कबीले एक-दूसरे के प्रति सहयोग और सहानुभूति

रखने की आवश्यकता नहीं समझते, उसी प्रकार दोनों वर्ग के सत्ताधारी यह सोच बना लेते हैं कि वे अपने आप में पूर्ण हैं। उन्हें दूसरे पक्ष की उपयोगिता समझने के लिए चिंतन के अवरुद्ध द्वार को खोलना चाहिए। यह न बन पड़ने पर दूसरे पक्ष को बिराना समझने के साथ-साथ वैमनस्य ही उपजता है। उस स्तर का मानस बन जाने पर यह भी प्रयास चल पड़ता है कि विपक्षी को निराधार और हेय ठहराने के लिए जितने तर्कों के तीर चलाए जा सकते हों, उन्हें चलाने में कोर-कसर न रखी जाए। पिछली शताब्दियों में यही होता भी रहा है। जब अध्यात्म का किला मजबूत था, तब उसके बुर्जों पर बैठे तोपची विज्ञान को आसुरी मायाजाल बताते रहे। शैतान की करतूत भी बताते रहे। अभ्यास प्रक्रिया की सीमा से आगे बढ़कर जब विज्ञान ने अपने नए अनुसंधानों को यथार्थवादी बताया तो उन्हें झुठलाया ही नहीं गया, वरन त्रास देने में भी कुछ उठा न रखा गया।

अब इस शताब्दी में विज्ञान ने बाजी मार ली है और अपने आविष्कारों के आधार पर मिलने वाली सुविधाओं के चमत्कार से सर्वसाधारण का मन मोह लिया है, तो उसने भी अपने विरोधी के प्रति कमर कसने में कोई कसर नहीं रखी है।

वैज्ञानिक क्षेत्रों में अध्यात्म को अंधविश्वास, कल्पनाओं की उड़ान और प्रतिगामियों का बौद्धिक षड्यंत्र कहना शुरु कर दिया है। धर्म को अफीम की गोली और तत्त्वदर्शन को भ्रांतियों की पिटारी ठहराना शुरु कर दिया है।

इस द्वंद्व में मनुष्य जाति को असीम क्षति उठानी पड़ रही है। गाड़ी को खींचने वाले दो बैल यदि परस्पर सींग मारने पर उतर आएँ तो यात्रा हो नहीं सकेगी। वे बैल भी आहत होकर उस उद्देश्य को चोट पहुँचाएँगे, जिसके लिए दोनों गाड़ी में जुते और एक दिशा में चलकर एक लक्ष्य पूरा करने के लिए नियोजित हुए थे। ❐

जड़ और चेतन एक दूसरे से पृथक हैं ही नहीं

इन दिनों अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय की चर्चा विज्ञान समाज में सर्वत्र होती रहती है। इतने पर भी यह नहीं उजागर किया जाता कि उस प्रतिपादन का उद्देश्य और स्वरूप क्या है? और क्यों इसकी आवश्यकता समझी जा रही है?

वस्तुतः प्रश्न ही तद्-विषयक भ्रांति पर आधारित है। विज्ञान और अध्यात्म सदा से एक-दूसरे के पूरक रहे हैं, विलग होने पर कोई भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए नहीं रह सकता है। अस्तित्व किसी रूप में बने भी रहें तो उनमें से किसी की भी उपयोगिता का प्रमाण नहीं मिल सकता। सौर मंडल को ही लें, उसमें नौ ग्रह और तैंतीस उपग्रह अब तक प्रकाश में आ चुके हैं। अगले दिनों इस संख्या में और भी अभिवृद्धि होने वाली है, अविज्ञातों को खोजा-निकाला जा रहा है। उस परिवार के किसी घटक में बुद्धिमान प्राणियों का अस्तित्व नहीं पाया गया है। इसका कारण एक ही हो सकता है कि या तो वहाँ जीवधारी इच्छाशक्ति से अनुकूल वातावरण बना नहीं सके अथवा प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण वहाँ प्राणियों की समर्थ प्रजातियों का उद्भव संभव नहीं हो सका, इसे जड़ और चेतन की विलगता कह सकते हैं।

ब्रह्मांड के अन्य ग्रह गोलकों की भी यही स्थिति रही होगी, जहाँ जीवन रहा होगा वहाँ सुविधा, समृद्धि और प्रगति के अनेक आधार खड़े हुए होंगे। पदार्थ को तोड़-मरोड़कर, खींच-घसीटकर जीवधारियों के लिए काम आ सकने योग्य बनाया गया होगा, इसके अभाव में पदार्थ अपनी अनगढ़ स्थिति में ही पड़ा होगा, वहाँ नीरवता के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर न रहा होगा। इसका तात्पर्य यही है कि जड़-चेतन के मध्य वहाँ तालमेल बनने का सुयोग नहीं

बन सका। जहाँ वह व्यवस्था रही है वहाँ हर परिस्थिति में जीवधारियों ने अपना अस्तित्व बनाए रखने और विभिन्न प्रकार की हलचलें करते रहने का प्रमाण दिया है।

पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव में असाधारण शीत है, फिर भी इन दोनों क्षेत्र में जीवधारियों के अपने-अपने ढंग के क्रियाकलाप पाए गए हैं। इस सुयोग के अभाव में समुद्र के मध्य उठे हुए अनेक द्वीप अभी भी सुनसान पड़े हैं। वहाँ छोटे जीव-जंतु भर किसी प्रकार जन्मे और बढ़ सके हैं। जड़ और चेतन के युग्म को ही विज्ञान और अध्यात्म की संज्ञा दी जाती है। जहाँ अकेला एक हो वहाँ निस्तब्धता के अतिरिक्त और क्या पाया जा सकता है, जलजीव भी उसी सुयोग का परिणाम हैं। आकाश में उड़ते रहने वाले जीवाणु-विषाणु आदि भी इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि दोनों का मिलन ही उपयोगी हलचलों का केंद्र हो सकता है। इससे प्रमाणित होता है कि जड़ और चेतन का मिलन ही हलचलों का केंद्र है और वे महत्त्वपूर्ण तब बनती हैं जब उन दोनों को उभारने-सुधारने वाला विज्ञान एवं अध्यात्म उपयोगी सीमा तक विकसित हो सकता हो।

यह समन्वय-सुयोग अनादि और अनंत है, जहाँ वे दोनों बिछुड़ जाएँ तो सर्वत्र न सही उस क्षेत्र में तो प्रलय के सूखे गीले, गरम-ठंडे दृश्य दिखाई ही देंगे, इसलिए दोनों के समन्वय के प्रश्न को उभारने में कोई प्रत्यक्ष दम नहीं है।

यदि सचेतन प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्वकाल पर दृष्टि डाली जाए तो भी आदि कारण को खोजते-खोजते वहाँ पहुँचना पड़ेगा जहाँ चेतन की इच्छा या प्रेरणा के उपरांत पदार्थ का अस्तित्व प्रकाश में आया। श्रुति वचनों में उसका उल्लेख भर है। 'एकोहम् बहुस्यामि' सूत्र में यही प्रतिपादन है कि सृष्टा को शून्य स्थिति में रहना अखरा तो उसने इच्छा की, 'एक से बहुत हो जाऊँ,' फलतः परा और अपरा प्रकृति के रूप में दो प्रवाह फूट पड़े और सृष्टि का आरंभ हो गया।

ब्रह्माजी द्वारा सृष्टि के रचे जाने का अलंकारिक मिथक भी प्रकारांतर से इसी स्थिति पर प्रकाश डालता है। इसी प्रकार शास्त्र वचनों में भी इसी वस्तुस्थिति को उजागर किया गया है—'ऋतं च सत्यं च...' आदि वर्णनों में भी इसी उपक्रम का विस्तार किया गया है, यह अध्यात्म प्रधान पक्ष का प्रतिपादन हुआ।

पदार्थ विद्या भले ही अपने परिकर द्वारा ही विश्व को ओत-प्रोत सिद्ध करे, उसी को प्रधान माने, फिर भी यह स्वीकार किए बिना उनका कथन भी समग्र नहीं बन पड़ता कि कोई अदृश्य इच्छा-शक्ति पदार्थ सत्ता का उद्भव, संचालन, अभिवर्द्धन और परिवर्तन जैसे खेल खिला रही है। यहाँ हर पदार्थ के पीछे एक सुव्यवस्था का समावेश है। परमाणु, जीवाणु, विषाणु स्तर के अदृश्य घटकों को भी किसी सुनियोजित रीति-नीति का प्रतिपादन करने के लिए विवश रहना पड़ता है। यदा-कदा उच्छृंखलता दीख पड़ती है, वह भी किन्हीं सशक्त नियमों के आधार पर ही दृश्यमान होती है, भले ही उन नियमों के संबंध में मनुष्य की जानकारी, कुछ आभास पाने तक ही सीमित क्यों न रही हो?

पीले आकाश में असंख्य ग्रह-गोलकों, वाष्पीभूत महामेघों के चक्रवातों की इकाइयाँ अधर में टँगी हुई हैं। गतिशीलता उनमें आकर्षण शक्ति बनाए हुए है, सबके बीच एक अत्यंत सुव्यवस्थित क्रिया-प्रक्रिया काम कर रही है और अणु से लेकर विभु तक के पसरे वैभव का इस प्रकार संचालन किए हुए है कि उसे अकारण नहीं कह सकते, उसके पीछे निश्चित ही कोई सुनियोजित चेतना तालमेल बिठाए हुए है।

वनस्पतियों, प्राणियों, सूक्ष्मजीवियों, जलचरों की जीवनलीला और गतिविधियों पर गंभीरतापूर्वक दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि यह सब आकस्मिक रूप से नहीं चल रहा है। हर घटक के पीछे कोई उच्चस्तरीय बुद्धिमत्ता काम कर रही है अन्यथा विखराव और टकराव का ऐसा माहौल दीख पड़ता, जिसके कारण उत्पन्न हुई

अव्यवस्था और अराजकता उड़ते गुबार के अतिरिक्त और कुछ भी दीख न पड़ती। किसी पदार्थ का कोई स्वरूप ही न बन पाता और न वह कुछ क्षणार्ध तक स्थिर ही रह पाता। सचेतन ही अचेतन पर नियंत्रण कर सकता है। पदार्थ की छोटी इकाई के अंतर्गत जिस प्रकार जितने परिकर काम करते और अपनी धुरी कक्षा में भ्रमण करते देखे जाते हैं, उनसे स्पष्ट है कि यह नियमित अनुशासन भी किसी व्यापक सत्ता का ही इच्छापूर्वक अवस्था के अंतर्गत रखा गया खेल है। प्राणियों के शरीरों में देखे जाने वाले अंग-अवयव, रसायन-जीवाणु अपने-अपने कार्य में इतने अधिक तल्लीन हैं मानों किसी ने उन्हें किसी आश्चर्यजनक कम्प्यूटर की तरह सुनियोजित किया हो। प्राणियों को क्षुधा निवृत्ति और वंश वृद्धि के कर्मों में इस प्रकार जोता हुआ है कि वे अपनी व्यस्त जीवनचर्या को सरसतापूर्वक पूर्ण करते रह सकें। इन दोनों प्रयोजन के लिए आवश्यक साधनों का सृजन भी इस प्रकार किया गया है कि वे हर किसी को सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सकें। इतना ही नहीं ऋतुचक्र भी इस प्रकार का विनिर्मित है कि उससे निबटने के लिए हर जीवधारी को अपने कौशल का, समुचित अभिवर्द्धन करने का अवसर प्राप्त होता रहे। वनस्पतियों और प्राणियों का एक-दूसरे का पूरक बनकर रहना भी कितना विचित्र है कि यह विश्वास किए बिना रहा नहीं जाता कि यह समस्त विस्तार किसी बुद्धिमान तंत्र के संरक्षण में चल रहा है।

शास्त्रीय प्रतिपादनों से लेकर वैज्ञानिक अनुसंधानों तक को अपने-अपने ढंग से एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा है कि पदार्थ का उत्पादन और उसका क्रमबद्ध नियमन किसी सचेतन सत्ता का ही खेल है। इस प्रकार जड़ और चेतन दोनों का अत्यंत सुव्यवस्थित होना सहज सिद्ध है, साथ ही यह भी प्रकट है कि दोनों पक्ष एक दूसरे के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं, जिसे सर्वथा जड़ समझा जाता है वह भी मृत नहीं है। पाषाण शिलाएँ और धातु खंड भी अपने अंतराल में किसी स्तर का जीवन धारण किए हुए हैं और

वे घटते-बढ़ते, बदलते रहते हैं। पूर्ण निर्जीव कहा जा सके, ऐसा तो यहाँ कुछ भी नहीं है। अग्नि का ज्वलंत ज्वाल भाल भी नहीं। समुद्र के ज्वार-भाटे तक नहीं। पदार्थ में सन्निहित 'गति या शक्ति' एक सुनियोजित व्यवस्था क्रम के साथ इस प्रकार जुड़ी हुई है कि वे राई रत्ती भर भी व्यतिरेक बरतने की स्थिति में नहीं है। प्राणियों की संख्या वृद्धि को नियंत्रित रखने से लेकर उनके निर्वाह साधन जुटाने तक की सुव्यवस्था इस प्रकार बनी हुई है कि आश्चर्य होता है कि यह उपक्रम किस प्रकार बन गया। हर प्राणी की चेतना इस ढाँचे में ढली है कि वह सुखपूर्वक जिए और दूसरों को सुव्यवस्थित रखने में योगदान कर सके।

चेतना का अस्तित्व सुनिश्चित है, वह ब्रह्मांडव्यापी विराट् भी है और प्रत्येक प्राणी तथा परमाणु में अपने अस्तित्व का सुनियोजन के आधार पर परिचय भी देती है। इसी प्रकार पदार्थ को उसके विभिन्न रूपों में विद्यमान देखा जा सकता है। वायुभूत होने पर वह दृष्टिगोचर भले ही न होता हो, पर उसका परिचय तो ठोस द्रव और गैस के रूप में विद्यमान है ही, दोनों के बीच सघनता भी इतनी है कि एक के बिना दूसरे का काम चल ही नहीं सकता। उनका अस्तित्व भी जाना और समझा नहीं जा सकता, विलग होने की स्थिति में यहाँ कुछ भी शेष न रहेगा। ताप, शब्द और प्रकाश की जो तरंगें काम करती हैं—जड़ चेतन को एक सूत्र में बाँधती हैं, उनका भी कहीं अता-पता न चलेगा। क्षीरसागर में विष्णु के सो जाने पर महाप्रलय हो जाता है, क्षीरसागर और विष्णु जड़ चेतन के यही दो समन्वय अंत में रह जाते हैं। आरंभ में भी कमल पुष्प पर बैठे ब्रह्मा द्वारा सृष्टि सृजन का यही तात्पर्य है कि ब्रह्म और प्रकृति वैभव का मिल-जुलकर बना आधार ही सृष्टि के सृजन का मूल कारण बना।

कोई जड़ ऐसा नहीं है जिसमें चेतना का कोई-न-कोई अंश विद्यमान न हो। पत्थरों तक में मंदगामी हलचल होती है, धातुओं तक को जंग लगती और क्षरण परिवर्तन होता है। समुद्र उफनते हैं,

हवा में अंधड़ चलते हैं, पृथ्वी में भूकंप आते हैं, आकाश में इंद्रधनुष देखे जाते हैं, पानी बरसता है, भाप उड़ती है, मौसम बदलते हैं। इन सबके साथ एक सूक्ष्म नियम व्यवस्था काम करती है, उसे सचेतन का ही प्रकार कहा जा सकता है। पड़ी लकड़ी में से कुकरमुत्ते उग पड़ते हैं, गोबर-कीचड़ में कृमियों का जन्म होने लगता है। यह सब तथ्य बताते हैं कि जड़ नितांत निर्जीव एवं गतिविहीन नहीं है। इसी प्रकार चेतन के संबंध में भी यही कहा जा सकता है कि उसका स्वरूप देखना तो दूर कल्पना तक कर सकना कठिन है। उथली चेतना होने के कारण मनुष्येत्तर प्राणी ईश्वर के स्वरूप और नियमों के संबंध में कोई कल्पना तक नहीं कर सकते। मनुष्य भी निष्कलंक ब्रह्म के संबंध में अपनी सुनिश्चित आस्था नहीं जमा पाता। धर्म धारणा और ध्यान धारणा के माध्यम से ईश्वर के साथ संबंध जोड़ने की प्रक्रिया में उसे किसी-न-किसी आकार को कहीं-न-कहीं ठहरा हुआ कल्पित करना पड़ता है। विभिन्न संप्रदायों और साधना परंपराओं ने ईश्वर का कोई-न-कोई ऐसा स्वरूप निर्धारित किया है, जिसका ध्यान बन पड़े और उसके साथ भक्ति-भावना का आरोपण संभव हो सके, नितांत निराकार की कल्पना तक नहीं बन पड़ती। वेदांत तक में आत्मस्वरूप में ईश्वर की ज्योति प्रकाशित होने की मान्यता है। इसके बिना तद्विषयक कोई चिंतन-चेतना उभरती ही नहीं, निराकार मत वाले भी प्रकाश ज्योति को ईश्वर का स्वरूप मानकर काम चलाते हैं।

चेतन और जड़ का दो भागों में वर्गीकरण करते हुए इस तथ्य को समझने में सुविधा पड़ती है, पर वह वर्गीकरण ऐसा नहीं हो सकता जो नितांत एकाकी हो। न तो हलचलों से, गुणों से, सामर्थ्यों से रहित किसी जड़-पदार्थ की उपस्थिति ढूँढ़ी जा सकती है और न सर्वव्यापी ब्रह्म चेतना का स्वरूप विवेचन संभव है। ईश्वर को भी किसी नियम व्यवस्था से अनुशासित-अनुप्राणित ही माना जाता है, उसके अनुग्रह और कोप की मान्यता को हृदयंगम किया जाता है।

स्वर्ग में, मुक्ति में उसके वैभव से मिल-जुलकर रहने की कल्पना है। भक्तजन ईश्वर से भी बदले में अपनी प्रेम भावना उपलब्ध होने की मान्यता अपनाए रहते हैं।

उत्पादन, अभिवर्द्धन और परिवर्तन—यह तीन गतिविधियाँ प्रत्येक पदार्थ और प्राणी में अनवरत रूप से होती रही हैं। इन हलचलों का केंद्र सजीव सत्ता ही हो सकता है। वैज्ञानिक, परमाणुओं से बनी इस सृष्टि को मानते हैं, परमाणुओं का ढाँचा भी सौरमंडल जैसा है, उसके अंतर्गत अनेकों इलेक्ट्रॉन-प्रोट्रॉन जैसे घटक ग्रह-उपग्रहों की भाँति धुरी और कक्षा में दौड़ते रहते हैं। उनकी क्रिया-प्रक्रिया में जो तारतम्य रहता है उसे देखते हुए भी यही कहा जा सकता है कि गति, शक्ति और अनुशासन, निर्जीव पदार्थ अपने संबंध स्वयं ही स्थापित और निर्धारित नहीं कर सकते।

इकालॉजी सिद्धांत के अनुसार समूची विश्व व्यवस्था में अति सघनता के साथ अनुशासन का समावेश है। सर्वत्र व्यवस्था ही व्यवस्था है, यहाँ तक कि यदा-कदा भूकंप-तूफान जैसे व्यतिक्रम जो दीख पड़ते हैं वे भी उन विशिष्ट नियमों के साथ जुड़े हुए हैं जिनका मनुष्य की समझ अभी तक पूरी तरह पता नहीं लगा पाई है।

जड़ को अव्यवस्थित होना चाहिए, किंतु यहाँ किसी को भी वैसी छूट नहीं मिली हुई है। शरीर के जीवाणु, तंतु, ऊतक, घटक इस क्रमबद्धता का परिचय देते हैं कि कायिक ढाँचा तक नियमबद्ध है। मनुष्य कभी-कभी नैतिक नियमों का उल्लंघन कर त्रात्कालिक लाभ उठाता देखा जाता है। इससे कर्मफल की व्यवस्था में संदेह होता है, पर कुछ ही समय में क्रिया की प्रतिक्रिया सामने आकर रहती है, इससे विदित है कि जड़ और चेतन का पारस्परिक समन्वय अविच्छिन्न है।

पदार्थ का प्रतिनिधित्व विज्ञान करता है और चेतना का अध्यात्म, दोनों के बीच सघन समन्वय न रहने पर तो यहाँ कुछ भी बन या चल

न सकेगा। ऐसी दशा में यह मान्यता गलत है कि दोनों सत्ताएँ एक दूसरे से पृथक हैं, ऐसी दशा में यह चर्चा भी बाल-विनोद जैसी लगती हैं कि अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। जो विलग है ही नहीं, उनका समन्वय करने की आवश्यकता और चेष्टा भी किस प्रकार बन पड़ेगी? ❐

यथार्थता तो स्वीकारनी ही पड़ेगी

श्रुति का वचन है कि 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' अर्थात यह सब विशद ब्रह्मांड ब्रह्म ही है। विराट् ब्रह्म की परिकल्पना में इस विश्व को ही ईश्वर का दृश्य स्वरूप माना गया है। अर्जुन, कौशल्या, काकभुशुण्डि आदि ने ईश्वर दर्शन का आग्रह किया तो उन्हें विराट् विश्व की झाँकी करके ही संतोष करना पड़ा। निराकार का अपना निजी स्वरूप कोई हो ही नहीं सकता। कलेवर समेत ही उसकी झाँकी होने की अपेक्षा की जाती है, यह कलेवर और कुछ नहीं प्रकृतिपरक ही हो सकता है, भले ही वह प्रत्यक्ष हो अथवा परोक्ष, दृश्य हो या अदृश्य, वह वस्तु रूप भी हो सकता है और कल्पना शक्ति के आधार पर स्व-विनिर्मित भी।

ईश्वर सान्निध्य की चर्चा का जहाँ प्रसंग आता है उसे अंतराल में, हृदय देश में, अंतः गुहा में अवस्थित ही बताया जाता है। चेतना का अणु पक्ष आत्मसत्ता में है और विभु पक्ष ब्रह्मांडीय चेतना में। दोनों एक ही तत्त्व के बने हैं। चिनगारी और आग, बूँद और जलाशय, घटाकाश और मठाकाश में मात्र आकार भिन्नता है। सत्ता एक ही है, ब्रह्म सान्निध्य का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आत्म-परिष्कार ही एकमात्र उपाय माना गया है। इसी के निमित्त उपासना, साधना और आराधना का त्रिविध प्रयास करना पड़ता है। योग और तप का बहुमुखी आधार इसी निमित्त जाना और किया जाता है। मैले दर्पण में अपनी छवि दिखाई नहीं पड़ती, मैले पानी में सूर्य का प्रतिबिंब नहीं

चमकता—इसी प्रकार दुश्चिंतन और कुकर्मों से, सड़े-गले जीवन से अंत:करण ऐसा दूषित हो जाता है कि उसमें ईश्वर सत्ता विद्यमान होते हुए भी आभास मिल नहीं पाता। इस अवरोध को दूर करने के लिए आत्मशोधन के ही प्रयास करने पड़ते हैं। अपूर्णता से उबरकर पूर्णता प्राप्त करने का यही एकमात्र मार्ग है। अध्यात्म तत्त्वदर्शन में इसी का प्रतिपादन है। साधनापरक समस्त कर्मकांड इसी की पूर्ति के लिए विनिर्मित किए गए हैं। जो जिस अनुपात से आत्मशोधन करता जाता है, उसके भवबंधन उसी मात्रा में कटते हैं। ब्रह्म सान्निध्य का रसास्वादन करने का अवसर उसे उसी अनुपात में मिलता चला जाता है। जीव की ब्रह्म सान्निध्य की लालसा को मृग की नाभि में कस्तूरी भरी होने पर भी उसे अन्यत्र ढूँढ़ते फिरने की तरह प्रयत्न करना बताया गया है।

तात्त्विक प्रतिपादन और अनुभवों का निर्धारण जीव और ब्रह्म की एकता का समर्थन है, इसे जड़ चेतन का समन्वय भी कह सकते हैं। इतना होते हुए भी यह देखा जाता है कि दोनों सत्ताओं में पृथकता ही नहीं प्रतिकूलता भी है। ईश्वर के गुण जीव में नहीं पाए जाते और जीव स्तर की गतिविधियाँ न अपनाने के लिए ईश्वर की विवशता भी समझी जा सकती है। जो व्यापक है वह एक केंद्र पर सिकुड़कर केंद्रित कैसे हो सके, यदि होने का प्रयास भी करें तो सृष्टि में वह अन्यत्र कैसे उपस्थित हो सकेगा? शून्य को पूरा क़ौन करेगा?

पुरातन प्रतिपादनों और निर्धारणों को समझ सकने के उपरांत वस्तुस्थिति सहज समझी जा सकती हैं, फिर भी इन दिनों दोनों के पृथक होने की कठिनाई का जो वर्णन किया जाता है, पृथकता के कारण होने वाली हानियों का जो वर्णन किया जाता है, एवं अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय पर जो जोर दिया जाता है, उन प्रतिपादनकर्ताओं के मंतव्य को समझना चाहिए। शब्दों के भ्रम-जंजाल में कई बार वह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि जो कुछ कहा जा रहा था, चाहा जा रहा

था उसके पीछे वास्तविक उद्देश्य क्या था और किस कठिनाई का क्या समाधान खोजा जा रहा था। इन दिनों चल रही चर्चा के संबंध में ऐसा ही शब्द जंजाल बाधक हो रहा है, उस उलझन की वास्तविकता को गहराई में उतरकर समझना होगा ताकि जो तथ्य विचारशीलों को उद्विग्न करते हैं, उन्हें समझाना और उनका समाधान खोजा जा सके।

विज्ञान पक्ष की मान्यता है कि जो प्रत्यक्ष है वह उतना ही सत्य है। इसमें जो तुरंत लाभ दीख सके, अपनी सत्ता का परिचय दे सके वही मान्य है। चूँकि ईश्वर, धर्म और तत्त्वदर्शन के प्रतिपादन प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसलिए उन्हें मान्यता क्यों दी जाए?

अध्यात्म का कथन है—शास्त्रों-आप्तवचनों में ही पूर्ण सत्य समाहित है, उन्हें झुठलाना ऋषियों और शास्त्रों का अपमान है। विज्ञान की खोजें नित नई सामने आती हैं, पिछले कथनों को झुठलाती चलती हैं—ऐसे अपरिपक्व प्रतिपादनों की बात क्यों सुनी जाए?

विरोध के मुख्य तथ्य यही हैं, विरोध चल पड़ने पर कटु प्रहार एवं दोषारोपण के अनेकों प्रसंग आते हैं और परस्पर गाली-गलौज की भाषा का प्रयोग होने लगता है। मंतव्यों को मिथ्या ही नहीं निहित स्वार्थों से प्रेरित तक कहा जाने लगता है। आस्तिक-नास्तिक स्तर का यही मल्लयुद्ध खून-खराबे तक पहुँचता रहा है।

विज्ञान के संबंध में अध्यात्म पक्ष द्वारा कहा जाता है कि उसके द्वारा प्रकृति का असाधारण दोहन किए जाने पर भविष्य के लिए कुछ न बचेगा। प्रदूषण फैलने की विषाक्तता प्राणघातक होगी, लोग काहिल बनेंगे—इसके कारण समस्त सत्ता संपदा सिमटकर कुछ ही हाथों में सीमित हो जाएगी। नीति-मर्यादाओं का कोई मूल्य न रहेगा आदि-आदि।

इसी प्रकार विज्ञान ने अध्यात्म को अंध-विज्ञान बताया है। धर्म को अफीम की गोली कहा है, आधार रहित कल्पनाओं की उड़ानें बताया है। ईश्वर यदि नियामक है तो वही कर्म अपनी विशेषताओं

के कारण प्रकृति क्यों नहीं कर सकती। अध्यात्म परावलंबन है, वह पराक्रम साहस को काटता है और व्यक्ति को दीन-दुर्बल बनाता है।

दोनों पक्ष अपने-अपने समर्थन में बहुत कुछ कहते रहे हैं, दूसरों पर लांछन लगाने में कोई कसर नहीं रहने देते रहे हैं। किसी ने भी यह नहीं सोचा कि दूसरे पक्ष के प्रतिपादनों और आक्षेपों में क्या कुछ सच्चाई भी है। भ्रांतियों के निराकरण और उपयोगी प्रतिपादनों को ग्रहण करने की यदि मनोभूमि रही होती तो जो खाई लगातार बढ़ती चली आई है, वह घटती। एक दूसरे के परिश्रम को सराहता और जो ग्रहण योग्य होता—अपनाता। जहाँ सहमति नहीं बन पड़ रही हो उसे सुलझाने के लिए कभी उचित अवसर आने की प्रतीक्षा करता तो ऐसी स्थिति न बन पड़ती जैसी आज है।

वस्तुतः दोनों ही पक्ष असाधारण शक्ति संपन्न हैं, उनके प्रतिदानों में इतनी सच्चाई एवं उपयोगिता भी है जिसे जन-साधारण को बताते हुए औचित्य अपनाने की पृष्ठभूमि तैयार की जा सके। विग्रह से शत्रुता उपजती है, आग्रह प्रतिष्ठा का प्रश्न बनता है और अहंकार इस प्रकार आड़े आता है कि तथ्यों के निरीक्षण-परीक्षण की गुंजाइश तक नहीं रहती, वरन विरोध में मजा आता है, दूसरे पक्ष को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

इस तनावपूर्ण स्थिति में एक तीसरा पक्ष उभरा है जिसे विवाद से उत्पन्न दिग्भ्रम ही कहा जा सकता है। सेनाएँ परस्पर विरोधी युद्ध की साज-सज्जा इसी मनःस्थिति में बनाती हैं। सभी जानते हैं कि उपयोगी पक्षों का विग्रह सर्व-साधारण के लिए, संसार के लिए हानिकारिक ही सिद्ध होता है। देवासुर संग्राम लंबे समय तक चलता रहा, पर उससे किसको क्या मिला? दोनों ने ही हानि उठाई, इस स्थिति में किसी को भी शांति में रहने एवं प्रगति करने का अवसर न मिला।

अंततः दूरदर्शी बुद्धिमत्ता उभरी, सहयोग की बात सोची गई। समुद्र मंथन की योजना बनी। लड़-झगड़ में खर्च होने वाली शक्ति

सृजन प्रयोजन में लगी, इस माहौल में निराश बैठे हुए कच्छप भगवान, वासुकि महासर्प, मंदिराचल पर्वत उस प्रयास में सहयोग के लिए कटिबद्ध हो गए। मंथन में चौदह रत्न निकले, उनके माध्यम से उन दोनों पक्षों का ही नहीं सर्वसाधारण को भी अनेक प्रकार से लाभान्वित होने का अवसर मिला।

उसी घटनाक्रम का स्मरण करते हुए विचारशील वर्ग द्वारा सोचा जा रहा है कि संसार की इन दोनों सर्वोपरि कही जा सकने योग्य शक्तियों को परस्पर सामंजस्य और सहयोग का तालमेल बिठाने की स्थिति में लाया जाए, अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय किया जाए—यह आवाज आज हर दिशा में उठ रही है। विश्व के मूर्द्धन्य विचारकों का यही अभिमत है कि इनके मध्य जो खाई खुद गई है, उसे पाटने के लिए प्रबल प्रयत्न किया जाए।

वास्तविकता यह है कि दोनों के बीच सामंजस्य की परंपरा अनादिकाल से चली आ रही है, वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं पूरक हैं। एक से सर्वथा पृथक रहकर दूसरा अपना अस्तित्व तक बनाए नहीं रह सकता। पदार्थ के बिना चेतना पंगु है और चेतना की प्रखरता के बिना पदार्थ अंधे के समतुल्य। अंधे-पंगे परस्पर मिलकर ही नदी पार करने की योजना बना सकते हैं और पार जाने में सफल हो सकते हैं, यही स्थिति उपरोक्त विवाद के संबंध में भी है। पृथक रहकर तो वे अभीष्ट लाभ उठाने से वंचित ही रहेंगे और असहयोग एवं विग्रहजन्य घाटा ही उठाते रहेंगे। अब समय आ गया है कि विरोध को मैत्री में परिणत किया जाए।

अध्यात्म और विज्ञान दोनों का ही एक लक्ष्य है—सत्य की खोज। यह तभी बन पड़ता है कि जब मस्तिष्क खुला रखा जाए, पिछली मान्यताओं में यदि नए तथ्य सामने आने पर परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़े तो उसके लिए तैयार रहा जाए। शोध प्रक्रिया इसी प्रकार संपन्न होती है।

अब तक दोनों पक्षों ने बहुत कुछ जाना है, पर जो जानने के लिए शेष है, वह उससे भी कहीं अधिक है जो अब तक हस्तगत हो चुका है। विज्ञान अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह समझता और अपनाता है, तभी तो पुराने शोध निष्कर्षों से संतुष्ट न रहकर आगे की बात जानने, अधिक गहराई में उतरने और यदि पिछले में सुधार-संशोधन करना पड़े तो उसके लिए तैयार रहा है। उपलब्धियों को पूर्ण मानने की उसकी प्रवृत्ति है ही नहीं, इसी का परिणाम है कि नित नए आविष्कार प्रकट होते चलते हैं और उनके द्वारा अधिक क्षमताएँ प्राप्त करते चलने के अवसर मिलते रहते हैं। यदि पूर्णता का आग्रह किया गया होता तो उसका परिणाम निश्चित रूप से यही होता कि अग्रगमन की संभावनाएँ समाप्त हो जातीं एवं अधिक नया जानने और अधिक महत्त्वपूर्ण प्राप्त करने का चलता हुआ उपक्रम अवरुद्ध होकर रह जाता।

इस संबंध में अध्यात्म पक्ष ने भूल की है। शास्त्र उल्लेख और आप्त-वचनों को ही पूर्ण न मानकर नए अनुसंधानों के लिए द्वार खुला रखा गया होता तो आज उसकी प्रखरता, प्रामाणिकता और उपयोगिता इतनी अधिक रही होती कि किसी को उँगली उठाने की चुनौती देने का अवसर ही न मिलता।

उदाहरण के लिए अगणित संप्रदायों की परस्पर विरोधी असंख्य मान्यताओं को लिया जा सकता है, उन्हें सोचना चाहिए था कि सच्चाई तो एक ही हो सकती है, उसकी समग्रता को समझते हुए असहमतियों को शिथिल करते हुए किसी एक निश्चय पर क्यों न पहुँचा जाए ताकि न मतभेदों-विरोधों के लिए गुंजाइश रहे और न जन-समुदायों को इस आधार पर एक-दूसरे को दुराग्रही-विग्रही ठहराना पड़े। यहाँ हाथी वाली कहानी याद आती है, जिसमें अंधों के एक समूह ने उसका स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न किया था, पर हाथ से जिन अंगों को वे छू सके उसी आकार का हाथी बताने की

जिद करने लगे। फलत: वे किसी निष्कर्ष पर भी न पहुँच सके और परस्पर लड़ते भी रहे। यह स्थिति धार्मिक मान्यताओं के संबंधी में भी है, उनके मूर्द्धन्य जन सभी पक्षों के स्वरूप को मिलाकर उन्हें एकता के केंद्र पर केंद्रित कर सकते हैं और धर्मों में जो सर्वोपयोगी है उसे एकत्रित करके सर्व साधारण तक एक सुनिश्चित मान्यता के रूप में पहुँचा सकते हैं। यदि इतना बन पड़े तो संप्रदायों की भिन्नता-एकता में विकसित होकर लोककल्याण में भली प्रकार समर्थ हो सकती है। विग्रहों में, भिन्नताओं में जो शक्ति खर्च होती है उसका उपयोग सदुद्देश्य के लिए बन पड़ना संभव हो सकता है।

विज्ञान ने वही किया है, उसके सिद्धांत सार्वभौम हैं। सभी देश उनसे समान रूप से लाभ उठाते हैं। बिजली, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन, मशीनें सभी का स्वरूप संसार भर में प्राय: एक जैसा है। सच्चाई एक होनी चाहिए, सूर्य एक है, चंद्रमा एक है, आकाश एक है, फिर विज्ञान के मूलभूत सिद्धांतों और प्रयोगों में भी एकता क्यों न होगी। इस प्रयोग ने सर्वसाधारण के मन में विज्ञान सिद्धांत की सच्चाई के संबंध में आस्था उत्पन्न की है और उसका समुचित लाभ भी उठाया है। धर्म को भी प्रामाणिकता के लिए एकता का, एकात्मता का सिद्धांत अपनाना होगा तभी विग्रह और भ्रम फैलाने के लांछन से मुक्ति मिल सकेगी। सभी एक न हो सकें तो कम-से-कम सहिष्णुता, समन्वय, समभाव तो अपनाना ही चाहिए, भले ही निजी अभिरुचि के अनुरूप कोई किसी प्रकार का प्रयोग-उपयोग अपनाता रहे। विज्ञान सार्वभौम, सार्वजनीन और सर्वोपयोगी है। अध्यात्म को भी इसी स्तर का बनकर अपनी महत्ता प्रतिपादित करनी चाहिए और वह स्थिति नहीं बनने देनी चाहिए, जिसमें उँगली उठाने और निंदा होने की स्थिति बने।

विज्ञान को, प्रत्यक्षवाद को झुठलाया नहीं जा सकता, उसकी प्रकृति और उपलब्धि का लाभ उठाया जाना चाहिए। भूतकाल के

आरंभिक चरणों में भी उसने इस विश्व वसुधा की, विशेषतया मानव जाति की महती सेवा-साधना की है। अब जब वह प्रौढ़ता के चरण में प्रवेश कर रहा है तो उससे और भी बड़ी आशाएँ की जा सकती हैं। उसकी उपयोगिता से इनकार न करते हुए देखना इतना भर है कि जो उसने कमाया है उसका दुरुपयोग न होने पाए, वरन ऐसा सदुपयोग बने, जिससे वह अध्यात्म की परोक्ष सत्ता का पूरक बन सके। ❐

वास्तविकता सिद्ध करने से कोई डरे क्यों?

शरीर को स्थिर और समर्थ बनाए रखने के लिए आहार-विहार के नियम पालने पड़ते हैं। लोक व्यवहार की भी कुछ मर्यादा और परंपराएँ हैं, जिनका निर्वाह करते हुए ही कोई शिष्ट-सज्जन कहा जा सकता है और सभ्य समाज में अपनी जगह बना सकता है। अर्थशास्त्र से लेकर विज्ञान तक की अनेक विधाएँ अपने सिद्धांतों के अनुरूप आचरण चाहती हैं। इन विधाओं की अवमानना करने पर प्रत्यक्ष जीवन में पग-पग पर हानि उठानी और भर्त्सना सहनी पड़ती है अनुशासन और प्रयोग विधान से विनिर्मित राजमार्ग पर चलते हुए ही कोई सुखी रह सकता है और प्रगति पथ पर अग्रसर होने का लाभ उठा सकता है।

अध्यात्म क्षेत्र का अपना स्वरूप और अपना अनुशासन है, जिसे पढ़-सुन लेने से काम नहीं चलता, वरन उसके निर्धारणों को हृदयंगम करना और दृढ़तापूर्वक प्रयोग में लाना पड़ता है। उस सारी व्यवस्था को समझ पाने पर ही यह संभव हो सकता है कि प्रतिफलों से लाभान्वित हुआ जा सके, केवल कथोपकथनों की तोता रटंत से तो कौतूहल मात्र बन पड़ता है। लाभ उठाने जैसी स्थिति तो बन ही नहीं पाती।

चेतन पक्ष को सुनियोजित-सुसंस्कृत बनाने की विधा को 'अध्यात्म' नाम से जाना जाता है। इसमें वह अनुशासन भी जुड़ा हुआ है, जिसको संयम या आत्मानुशासन नाम से जाना जाता है। यह न बनने पर जो शेष रह जाता है, उसे आडंबर या कलेवर ही कह सकते हैं। रामलीला आयोजन में बड़े आकार के रावण-कुंभकरण आदि खड़े किए जाते हैं। उनसे कौतूहल भर होता है। अधिक-से-अधिक उन दैत्यों के संबंध में कुछ जानकारी मिलती है, पर यह नहीं होता कि वे पुतले अपने कलेवर के अनुरूप कुछ क्रिया-कृत्य, पराक्रम, पुरुषार्थ करके दिखा सकें। यही बात अध्यात्म के संबंध में भी है। आमतौर से लोग उसके कलेवर भर का स्पर्श करने में रुचि लेते हैं। उसकी मर्यादाओं को जीवन में उतारने का प्रयत्न नहीं करते। फलतः जो कुछ बचा रहता है, उसे कलेवर की विडंबना भर कहा जा सकता है। तथ्य और तत्त्व का समावेश न होने पर यह स्थिति बन नहीं पड़ती, जिसमें विज्ञान के समतुल्य या उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध कर सकने की स्थिति बन सके। एक ओर सजीव हाथी खड़ा हो और दूसरी ओर वैसा ही कागज का पुतला बनाकर खड़ा कर दिया जाए, तो यह आशा नहीं की जा सकती कि तुलना करने पर दोनों की सामर्थ्य समान सिद्ध हो सकेगी, दोनों को समान महत्त्व का मूल्य मिल सकेगा, दोनों से समान काम लिया जा सकेगा। नकली को अधिक वरिष्ठ या प्रमुख सिद्ध करने का तो अवसर ही कहाँ आता है।

जब जड़ पदार्थों से लाभान्वित होने की, शरीरों को स्वस्थ रखने की, व्यापार-व्यवसाय की, कोई विधि-व्यवस्था हो सकती है, तो चेतना को सही और सुसंस्कृत बनाए रहने का भी सुनिश्चित अनुशासन रहेगा ही। शरीर की पृष्ठभूमि में प्राण काम करता है। प्राण दुर्बल हो जाने पर या विलग हो जाने पर शरीर महत्त्वहीन बन जाता है। इससे प्रकट है कि चेतना की, प्राण सत्ता की, विचारणा की अपनी समर्थता

और उपयोगिता है। उसे उपेक्षा की स्थिति में नहीं रखा जा सकता है, जैसे तैसे, जहाँ-तहाँ उसे पड़ा नहीं रहने दिया जा सकता है। अनगढ़ बनी रहने पर तो वह जंग खाई हुई घड़ी की तरह समय बताने की अपनी क्षमता से वंचित ही बनी रहेगी। इस दुर्गति से चेतना क्षेत्र को बचाए रहने के लिए अध्यात्म विज्ञान का सुनियोजन हुआ। पदार्थ विज्ञानियों की तरह ऋषि-कल्प तपस्वियों ने अपने मानस को प्रयोगशाला बनाकर उन तथ्यों को खोज निकाला है, जिन्हें अपनाकर नर-वानर स्तर का एक सामान्य प्राणी किस तरह ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी, विश्व वसुधा का अधिष्ठाता बन सका। किस प्रकार उसने अपनी प्रसुप्त शक्तियों को खोजा और उन्हें जागृत करके देवमानव का पद पाया। अध्यात्म का जादू जैसा इन दिनों माना जाता है और उसे प्राप्त करने के लिए रहन-सहन किन्हीं विचित्रताओं से भरा बनाना पड़ता है, पर बात ऐसी बिल्कुल भी नहीं है। अध्यात्म विचारों की उत्कृष्टता अपनाने से आरंभ होता है। इसका प्रभाव व्यक्तिगत चरित्र को उत्कृष्ट स्तर का देखे जाने में परिलक्षित होता है। यही उपलब्धि जब जनसंपर्क में उतरती है तो आदर्शवादी व्यवहार कुशलता के रूप में दीख पड़ती है। इसी समग्र प्रयोजन को एक शब्द में चेतना की उत्कृष्टता भी कह सकते हैं। यही अध्यात्म है।

पदार्थ द्वारा मिल सकने वाले लाभों से सभी परिचित हैं। बलिष्ठ शरीर की उपयोगिता भी निरंतर सिद्ध होती रहती है। संपत्ति के आधार पर इच्छित, सुविधा-साधन खरीदे जा सकते हैं। यह प्रत्यक्ष उपलब्धियों का माहात्म्य हुआ। इससे कहीं अधिक बढ़े-चढ़े लाभ विभूतियों के हैं। गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता को ही दार्शनिक भाषा में अध्यात्म कहा जाता है। उसके आधार पर जो मिल सकता है, उसकी जानकारी संसार में सृजन के प्रयोजनों में सफल हुए महामानवों की जीवन-गाथा का पर्यवेक्षण करते हुए सहज ही जानी जा सकती है।

इन दिनों देवताओं, भूत-प्रेतों, सिद्धि चमत्कारों की विचित्रताओं से भरी हुई कृतियों को ही अध्यात्म का स्वरूप जाना जाता है। मान्यताओं के क्षेत्र में उसकी परिधि परलोक तक सीमाबद्ध रहती है। स्वर्ग मुक्ति के अतिरिक्त चमत्कारी सिद्धियों से उसे जोड़ा जा सकता है। मनोकामनाएँ पूर्ण करने, शाप-वरदान देने में भी उसकी भूमिका समझी जाती है। यह मान्यताएँ सर्वथा अप्रासांगिक हैं। वास्तविकता इतनी भर है कि अध्यात्म विज्ञान के अनुरूप आचरण करने पर अदृश्य चेतना के—भावना, मान्यता, आस्था, प्रज्ञा, निष्ठा, श्रद्धा पक्षों को उच्चस्तरीय बनाया जाता है। वे परिस्थिति होने पर इच्छा, आकांक्षा, प्रेरणा के रूप में बुद्धि क्षेत्र को देवोपम बनाती हैं। देवोपम से तात्पर्य है—उत्कृष्टता संपन्न आदर्शवादी चिंतन और चरित्र। व्यक्तित्व का परिष्कार भी इसी को कहते हैं। प्रतिभा परिवर्द्धन भी इसी के साथ जुड़ा रहता है। इन विशेषताओं से संपन्न होने पर व्यक्ति उस स्तर का बन जाता है, जिसे श्रद्धेय, सम्माननीय, प्रामाणिक, अनुकरणीय, अभिनंदनीय कहा जा सके। इसी स्तर पर पहुँचने के लिए जो पराक्रम एवं अनुशासन अपनाना पड़ता है, उसे अध्यात्म की ही फलश्रुति समझना चाहिए। यह नकद धर्म है। इस क्षेत्र के प्रयासों के परिणाम हाथोंहाथ देखे जा सकते हैं। आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह इसकी तीन उपलब्धियाँ मानी जाती हैं, जो इस मार्ग पर चलने वालों को पग-पग पर मिलती जाती हैं।

आत्मबल प्राप्त करने के लिए दो साधनाएँ निरंतर करनी पड़ती हैं—एक है संयमशीलता, जिसे दूसरे शब्दों में तपश्चर्या भी कह सकते हैं। इसका प्रयोग है—पुण्य परमार्थ। लोकमंगल, जनकल्याण भी इसी आधार पर बन पड़ता है। संकीर्ण स्वार्थपरता यदि उदात्त उदारता में विकसित हो चले तो समझना चाहिए कि अध्यात्म सही रूप में अपनाया गया और उल्लास भरा सत्परिणाम मिलते रहने की बात बन गई।

आत्मनिर्माण, आत्मबल संपादन आदि की अलंकारिक फलश्रुतियों और माहात्म्य-महत्त्वों का वर्णन दार्शनिक स्तर पर विशद रूप में होता रहता है। इस हेतु अलंकारिक कथानक भी कहे सुने जाते रहते हैं। उन्हें कई लोग भ्रमवश प्रकृति नियमों का अतिक्रमण भी मान बैठते हैं, पर वस्तुतः ऐसा कुछ है नहीं। विश्व व्यवस्था की शक्तिधारा सर्वत्र एक-सा काम करती है। व्यक्ति विशेष पर प्रसन्न-अप्रसन्न भी नहीं होती। मनुहार और उपहार का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उपासना साधना के नाम पर जो कुछ किया जाता है, उसका एकमात्र उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास परिष्कार ही है। इतना बन पड़ने पर मनुष्य एक ऐसा चुंबक बन जाता है, जो बहिरंग क्षेत्र की समृद्धियों और अंतरंग की विभूतियों एवं सिद्धियों को अपने साथ खींचता और जोड़ता रहता है।

व्यक्ति चेतना की तरह ब्रह्मांड चेतना भी है। चिंगारी और ज्वाला की उपमा इसी प्रसंग में दी जाती है। परिष्कृत व्यक्तित्व जागृत चिनगारी है, जो अवसर का सुयोग मिलते ही ज्वाल-भाल एवं दावानल के रूप में सुविस्तृत बनती और असाधारण भूमिका निभाती देखी जाती है। ऐसे प्रसंगों का ही दैवी चमत्कार के रूप में उल्लेख होता रहता है।

अध्यात्म की वास्तविकता का स्वरूप एवं उपक्रम समझ लेने के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतन को महत्चेतन के साथ जोड़ने की यह प्रक्रिया आत्मसंयम, अनुशासन, मर्यादापालन की तपश्चर्या से आरंभ होती है और उत्कृष्ट आदर्शवादिता से भरे-पूरे चरित्र व्यवहार में अपना प्रमाण-परिचय पग-पग पर देती है। परिष्कृत आत्मा ही परमात्मा है। वेदांत दर्शन में 'अयमात्मा ब्रह्म,' 'प्रज्ञानब्रह्म,' 'तत्वमसि,' 'सोऽहम्,' 'शिवोऽहम्' जैसे सूत्रों द्वारा वास्तविकता का स्पष्टीकरण किया गया है।

गई गुजरी स्थिति में मनुष्य नर-वानर से अधिक और कुछ नहीं रहता। संचित कुसंस्कार और प्रचलन के प्रभाव मिलकर पतनोन्मुख

प्रवाह उत्पन्न करते हैं। ढलान पर वैसे लोग क्रमशः नीचे की तरफ खिसकते रहते हैं। पतनोन्मुख इन्हीं प्रवृत्तियों को भवबंधन, नरक आदि नाम से जाना जाता है। असुर, शैतान, दैत्य, दानव आदि यही हैं। जन-साधारण पर छाए हुए इस कुहरे को हटाने को, उसके देव मानव स्तर को प्रकट करने वाले स्वरूप को ही ब्रह्म-निर्वाण कहते हैं। जीवनमुक्त उन्हीं को कहते हैं, जो अपनी चेतना को कषाय-कल्मषों से मुक्त करके निर्मल जल अथवा स्वच्छ दर्पण जैसा बना लें। उन्हीं पर आकाश का प्रतिबिंब यथावत उतरता है। ईश्वर सान्निध्य इसी आधार पर बन पड़ता है। चुंबक के साथ लोहे के टुकड़े ही सट पाते हैं। अधिक तापमान से प्रभावित हुआ कोयला ही हीरे के रूप में परिणत होता है। परिष्कृत आत्मा ही परमात्मा के समतुल्य बन जाता है। सद्गुणों के समुच्चय वाली विश्वव्यापी चेतना ही परमात्मा है। उसी स्तर की आत्माएँ ही सजातीय के साथ घुलने में समर्थ होती हैं।

अध्यात्म का स्वरूप और उद्देश्य यही है। यह उपक्रम जहाँ, जितने अंश में बन पड़ रहा हो, समझना चाहिए कि वहाँ उतना ही भगवान का निवास है। असली और बड़ी मात्रा में होने पर ही महत्त्वपूर्ण सत्ताएँ अपना चमत्कार दिखाने में समर्थ होती हैं।

अध्यात्म आस्तिकता पर अवलंबित है। आस्तिकता मर्यादाओं के परिपालन और वर्जनाओं से बचे रहने के रूप में प्रत्यक्ष देखी जाती है। कर्मफल पर विश्वास जमाना अध्यात्म का मूल उद्देश्य है। लोग सोचते हैं कि कुकर्मों का फल हाथों-हाथ नहीं मिला, तो पीछे कभी नहीं मिलेगा, इस बात पर क्यों विश्वास किया जाए, इसी विभ्रम के कारण आए दिन अनाचार की अभिवृद्धि होती देखी जाती है। यदि कर्मों के प्रतिफल का विश्वास यथावत बना रहे तो फिर सदाचार पर अवलंबित समाज में सर्वत्र सुख-शांति का वातावरण ही बना रहे।

इस स्तर के अध्यात्म का, विज्ञान का उद्देश्य सत्य की खोज अविज्ञात का अनुसंधान और प्रगति के साधन जुटाना है। यदि यही

कुछ अध्यात्म के द्वारा चेतना क्षेत्र में संपन्न किया जाता हो, तो विग्रह क्यों उठेगा। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में काम करते हुए भी एक-दूसरे के पूरक समझे जाने लगेंगे। हवा आकाश में परिभ्रमण करती है और आहार दृश्यमान खाद्य पदार्थों से विनिर्मित है। इतने भर से दोनों की भूमिका जीवन निर्वाह में समान स्तर की होती है। यदि लक्ष्य एक रहे तो उन्हें विरोधी क्यों माना जाएगा? उपलब्धियों का सदुपयोग और जो आगे की संभावनाएँ हैं, उनका अनुसंधान—यह कार्य दोनों महाशक्ति याँ अपने-अपने ढंग से संपन्न करती रहें तो उनके बीच विग्रह कहाँ रहा? कान सुनते हैं, आँखें देखती हैं। दोनों की कार्यप्रणाली अलग होते हुए भी काया को समग्र सुनियोजित रखने में उनकी भूमिका समान ही होती है। एक के अभाव में दूसरे के होने पर भी समग्र क्षमता में भारी व्यवधान ही उत्पन्न हो जाता है।

अंधविश्वास फैलाने का आरोप दार्शनिक प्रतिपादनों पर लगता है, कारण कि उनके आधार पर जो कुछ कहा जाता है वह सर्वमान्य नहीं होता। मात्र एक वर्ग के लोग ही उसे यथार्थ मानते हैं। अपने को सच्चा और दूसरों को झूठा भी ठहराते हैं। कलह यहीं से आरंभ होता है। जो बात प्रत्यक्ष प्रमाणित न की जा सके, उसे अपनी श्रद्धा के अनुरूप मान्यता देने में तो कोई भी स्वतंत्र है, पर उन्हें दबाव या प्रलोभन के आधार पर दूसरों पर थोपना अनुचित है। इसी अनौचित्य का विरोध प्रायः विज्ञान वर्ग द्वारा अध्यात्म पर होता रहता है। मरणोत्तर जीवन, संप्रदाय विशेष पर ईश्वर की अनुकंपा या नाराजी जैसे प्रतिपादनों से सत्य की शोध में बाधा पड़ती है। प्रत्यक्षवाद का हिमायती बुद्धिवादी वर्ग इसी आधार पर अध्यात्म को अंधविश्वासों पर अवलंबित कहता और उसे अमान्य ठहराता है। इस प्रश्न पर संप्रदायवादी दार्शनिकों को भी नरम होना चाहिए कि उनके प्रतिपादन नीतिशास्त्र और समाज सुनियोजन में किस सीमा तक सहायक सिद्ध होते हैं। सर्वसाधारण को उन मान्यताओं के सहारे किन सुव्यवस्थाओं

की उपलब्धि होती है। तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण के आधार पर यदि अध्यात्म मान्यताएँ सही सिद्ध की जा सकें, तो वे प्रत्यक्षवाद की कसौटी पर भी खरी सिद्ध होंगी और उनका मान बौद्धिक तथा वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद की कसौटी पर खरा सिद्ध होता चलेगा, फिर किसी को किसी पर आरोप लगाने का, आक्षेप थोपने की गुंजाइश न रहेगी।

अध्यात्म मान्यताओं में ऐसे अनेकों प्रसंग एवं प्रकरण जुड़ गए हैं जो न तो अपनी यथार्थता सिद्ध कर पाते हैं और न उपयोगिता। मात्र शास्त्रवचन, परंपरा प्रचलन की दुहाई देकर दुराग्रह ही अपनाए रहते हैं यह स्थिति विचारशील वर्ग के सम्मुख उपहासास्पद बने, तो आश्चर्य ही क्या?

समय की माँग है कि इस सर्वव्यापी अवांछनीयता और अप्रामाणिकता के माहौल में हर मान्यता का नए सिरे से विवेचन निरीक्षण हो। जो अपनी उपयोगिता सिद्ध कर पाता है उसी को लोकमान्यता मिलती है। इस संदर्भ में अध्यात्म को स्वयं आत्म निरीक्षण—परीक्षण करना चाहिए और 'जो खरा है, वह अपना' वाला सिद्धांत अपनाकर ऐसा कवच पहन लेना चाहिए कि जिस पर बुद्धिवाद का, प्रत्यक्षवाद का आक्रमण आघात न पहुँचा सके। ❐

दोनों प्रचंड शक्तियों का समन्वय

शक्ति और समर्थता का अपना महत्त्व है, पर उससे लाभ उठाने की एक ही शर्त है कि उस पर दूरदर्शी विवेकशीलता का अंकुश रहे। इसके बिना शक्तिमद उच्छृंखलता अपना लेता है और ऐसा कुछ करने के लिए उतारू होता है जिसे प्रकारांतर से अनर्थ ही कहा जा सके। दुर्बल खरगोश तो एक सीमा तक ही खेत को उजाड़ सकता है, पर पागल हाथी को उसे खाने और खुरतारने की सनक से उस हरितमा को तहस-नहस किए बिना चैन नहीं मिलता। इसीलिए

जंगली हाथियों वाले क्षेत्र में कृषि करने वालों को सुरक्षा के लिए विशेष प्रयत्न और प्रबंध करना पड़ता है।

पशु पालक बलिष्ठ जानवरों से उपयोगी काम कराते हैं, पर इसीलिए उन पर नियंत्रण की कड़ी व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है। घोड़े के मुँह में लगाम लगानी पड़ती है। ऊँट की नाक में नकेल डाली जाती है, बैल के नथुने छेदने पड़ते हैं। हाथी से सही काम कराने के लिए महावत को न केवल प्रशिक्षित होना पड़ता है, वरन पैनी नोंक वाले अंकुश का भी लगातार प्रयोग करना पड़ता है। यदि इन जानवरों को अपनी मर्जी पर चलने के लिए खुला छोड़ दिया जाए तो न केवल पालने वालों के लिए, वरन उनकी चपेट में आने वाले हर किसी का बंटाढार करेंगे। रेल और मोटर को घुमाने, रोकने की प्रणाली सही रखनी पड़ती है अन्यथा वे किसी से भी टकराकर अपना और सामने वाले का विनाश कर सकती है। सरकसों में खूँखार जानवरों के खेल दिखाना तभी संभव होता है जब उन्हें चाबुकों की मार से डराकर संचालक को इच्छानुसार काम करने के लिए पूरी तरह सहमत कर लिया जाता है। यदि वे स्वच्छंद रहें तो पालने वालों से लेकर दर्शकों तक की दुर्गति बना सकते हैं।

विज्ञान को शक्तिपुंज कहा जा सकता है, पर वह जड़ पदार्थों से विनिर्मित होने के कारण विवेकशून्य स्तर का है। स्वच्छंदता मिलने पर वह ऐसा भी कर बैठ सकता है, जिससे भारी हानि उठानी पड़े और पछताते हुए सिर धुनना पड़े। चूल्हे की चिनगारी को उचटने का अवसर मिल जाए तो वह अपने घर का छप्पर ही नहीं जलाएगी, वरन पास-पड़ोस को चपेट में लेते हुए पूरे गाँव को भस्मसात करके रहेगी। इसलिए आग को सतर्कतापूर्वक ढककर रखा जाता है।

समर्थता अच्छी बात है, पर उसके साथ सदुपयोग करने और सुरक्षा में रखने की शर्त अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है अन्यथा खतरा-ही-खतरा मँडराता रहेगा। धन-दौलत को जहाँ-तहाँ पड़ी

रहने देने पर चोर-डाकुओं का आक्रमण हुए बिना नहीं रह सकता। अस्त्र-शस्त्रों को लूट ले जाने की घात में लुटेरे रहते हैं। विषैले रसायनों की बिक्री पर लाइसेंस रहता है। मादक पदार्थों के सेवन की भी खुली छूट नहीं रहती। कारण कि वे सब असाधारण शक्तिशाली होते हैं और बारूद के भड़क उठने पर उत्पन्न होने वाले विनाश की तरह संकट खड़े करते हैं।

भौतिक विज्ञान और उनके सशक्त उत्पादनों का लाभ तभी है जब उनके ऊपर दूरदर्शी प्रणाली का समुचित अंकुश नियंत्रण हो, अन्यथा असुरक्षित छोड़ देने पर लाभ के स्थान पर हानि सहने का संकट ही सहन करना होगा। भूल यहीं हुई है और हो रही है। समर्थ होने के अहंकार ने अपने आप को सर्वत्र स्वतंत्र मान लिया है, उसके ऊपर नियंत्रण की भी आवश्यकता है, यह किसी ने अनुभव नहीं किया। फलस्वरूप स्वच्छंदता इस कदर बढ़ गई कि विज्ञान ने पदार्थ संपदा की उधेड़बुन करते रहने तक सीमित न रहकर तत्त्वदर्शन को भी अपने ढाँचे में ढालना आरंभ कर दिया। अब भौतिकवाद एक दर्शन भी बन गया है, उसका प्रतिपादन है कि जो इंद्रियों या यंत्रों की पकड़ में आ सकता है उतना ही सत्य और तथ्य है। ईश्वर द्वारा विनिर्मित क्रिया की प्रतिक्रिया को भी नकारा गया है और कहा गया है कि उसे भावनात्मक मामले में दखल नहीं देना चाहिए। विष खाने से मृत्यु हो जाती है और टॉनिक पीने से फुर्ती आती है, इतना ही प्रतिपादन पर्याप्त है। चेतना पक्ष में क्या उचित और क्या अनुचित है? इसे किन्हीं ने जानने और सदुपयोग करने का महत्व ही नहीं समझा।

दर्शन के क्षेत्र में विज्ञान का हस्तक्षेप बढ़ने का प्रतिफल लगभग नास्तिकता जैसा हुआ। प्राणी को जब पदार्थ मात्र मान लिया गया तो उस पर भी जड़ नियम लागू करने की बात सोचना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में चेतना की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती तो उस पर उन कर्तव्यों और दायित्वों का आरोपण कैसे किया जाए जो भाव संवेदना,

उदारता, परमार्थ-परायणता, सेवा-सद्भावना, शालीनता, संयम जैसी दिव्य विभूतियों से संबंधित है। यदि इन्हें अनावश्यक ठहरा दिया जाए तो मानवी मर्यादाओं का पालन और वर्जनाओं का अनुशासन मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ऐसी दशा में समाजनिष्ठ और परस्पर आदान-प्रदान पर निर्भर मानवी सत्ता की चारित्रिक उत्कृष्टता को मान्यता मिलना कठिन हो जाएगा। भौतिक दर्शन या दमन मनुष्य जैसे अति चतुर प्राणी को सज्जनता के अनुबंध में बाँधे रह सकेगा, यह संभव नहीं। वह पग-पग पर धूर्तता का प्रयोग करते हुए ऐसा कुछ कर सकता है जिससे नीति, सदाचार, न्याय, सहकार, सद्भाव जैसे मानवी सद्गुणों की चूलें ही हिल जाएँ। धूर्तता में कौए और लोमड़ी को बदनाम करने वाली कहानियाँ कही जाती हैं, पर असल में नीचे स्तर पर उतरा हुआ मनुष्य ही वह प्राणी है जिसे दूसरे शब्दों में प्रेत-पिशाच कह सकते हैं। वह जब अनाचार पर उतारू होता है तो वैसे असंख्यों कुचक्र रच देता है, जिससे अपना ही नहीं अन्यान्यों का, प्राणियों का एवं पदार्थ जगत का भी सर्वनाश करके रख दे। प्राचीनकाल की असुर उपाख्यानों की वृहत्तर शृंखला इसकी प्रत्यक्ष प्रमाण है। आधुनिक काल में हर क्षेत्र में उफनती विपन्नता भी यही बताती है कि मनुष्य भटका हुआ देवता ही नहीं, छद्म वेषधारी दैत्य-दानव भी है।

संव्याप्त विपत्तियों, समस्याओं, विडंबनाओं और अनिष्ट आशंकाओं के मूल में एक ही कारण है—मनुष्य के स्तर में निकृष्टता का समावेश। उसकी कृतियाँ संसार में स्वर्ग भी उतार सकती हैं और देखते-देखते नरक का माहौल भी बना सकती हैं। यदि संसार को सुखी-समुन्नत बनाना है तो प्रधानतया एक ही उपाय अपनाना होगा उसे सुसंस्कृत बनाना, शालीनता अपनाने के लिए भावना स्तर पर तैयार करना। यह कैसे बन पड़े? इसके उत्तर में एक ही बात कही जा सकती है कि उसके दृष्टिकोण में उत्कृष्ट आदर्शवादिता का

समावेश कर सकने वाले तत्त्वदर्शन को अपनाने के लिए उसके अंतराल को सहमत करना।

दबावों से कुटिलों को एक सीमा तक ही बदला जा सकता है। अवसर पाते ही जिस भी परिस्थिति में रहना पड़े, उसी में 'बेशरम बेल' और जलकुंभी की तरह अपना विस्तार करने लगते हैं और अमरबेल जैसा अपना परिचय देने लगते हैं। प्राचीनकाल का दैत्य अभी भी मौजूद है, मात्र उसके क्रिया-कलाप में परिस्थिति के अनुरूप अंतर हुआ है। नृशंसता अभी भी मौजूद है, मात्र उसने वेष बदला है। तर्कों के सहारे अपने कुकृत्यों को औचित्य बताना शुरु कर दिया है, उसमें बाधक बनने का अपयश लेने के स्थान पर शोषण, छद्म, विश्वासघात और भ्रमजंजाल में फँसाकर उल्लू सीधा करना सरल पड़ता है। जल्लाद की तुलना में चिड़ीमार अधिक सरल मालूम पड़ते हैं। इसी प्रकार तर्कों का आवरण पहनाकर सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध करना अधिक सरल पड़ता है। कई अधिवक्ता इसी आधार पर अपनी आजीविका चलाते हैं। मार्गदर्शन का दायित्व उठाने वाले नेता भी कई बार अभिनेता और बहुरूपिए विदूषकों की भूमिका निभाते देखे जाते हैं, इन्हें कैसे समझाया और राह-रास्ते पर लाया जाए, यह प्रश्न बड़ा टेढ़ा और जटिल मालूम देता है। समझाने-बुझाने का तरीका भी कुछ अधिक कारगर सिद्ध नहीं होता। कारण कि प्रथा का जहाँ तक संबंध है वहाँ तक आदर्शवाद की शिक्षा दूसरों को देने में सभी प्रवीण पाए जाते हैं। स्वयं भी चोर को नौकर रखने, नशेबाज के साथ व्यवहार रखने को तैयार नहीं होते, क्योंकि उनके हानिकारक अनौचित्य को पहले से ही समझते हैं। फिर भी जब अपनी बात आती है तो उन्हीं बुराइयों को कार्यान्वित करने में सकुचाते नहीं, इस छद्म के रहते सदाचार की शिक्षा देना भी एक प्रकार से निरर्थक हो जाता है। क्योंकि अंतराल की गहराई में अनाचार का पक्षधर अविवेक पहले से ही जड़ जमाए बैठा होता है।

उखाड़ना इसी क्षेत्र में गड़ी हुई जड़ों को है। परिवर्तन उस दृष्टिकोण का किया जाना चाहिए जिसका स्थायित्व आस्थाओं और भावनाओं से संबंधित है।

यह हेर-फेर जीवन दर्शन आस्थाओं के अभ्यास पर, प्रचलन के प्रभाव पर निर्भर है। इसके लिए अध्यात्मपरक मान्यताओं, आस्थाओं और आदतों को स्वभाव में सम्मिलित करना होगा, यही है व्यक्तित्व के स्तर का मूलभूत आधार। इसी को परिष्कृत करने के लिए अध्यात्म का समग्र ताना-बाना बुना गया है। इस भाव संवेदना में जिस आधार पर उत्कृष्टता का मानवी गरिमा के अनुरूप समावेश किया जा सके, उसी आस्था नियोजन के आधार पर व्यक्ति के गुण, कर्म और स्वभाव का निर्माण होता है। यही है वह मेरुदंड जिसके सही सीधा होने पर कोई सीधा खड़ा होने और तनकर चलने में समर्थ हो सकता है।

इस तथ्य को इतिहास और वर्तमान के जनस्तर पर दृष्टिपात करके भली प्रकार जाना जा सकता है कि ऊँचे दृष्टिकोण एवं अच्छे स्वभाव के कारण ही लोग सर्वसाधारण की दृष्टि में अपने को प्रामाणिक एवं विश्वस्त सिद्ध कर पाते हैं, उसी को सम्मान और सहयोग मिलता है। इसी के आधार पर किसी का मनोबल, चरित्रबल और कौशल बढ़ता है। उँचे उठने, आगे बढ़ने और सफलताएँ अर्जित करने का यही मार्ग है। इसी विशिष्टता के आधार पर कोई महामानव स्तर के अपना और अन्यान्यों का कल्याण कर सकने वाले परमार्थ स्तर के कार्य कर पाता है। इस प्रकार अध्यात्म का अवलंबन प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से हर किसी के लिए लाभदायक ही सिद्ध होता है। नीति-निष्ठा अपनाए रहने पर आत्मसंतोष का, हलके-फुलके प्रसन्न चित्त बने रहने का लाभ मिलता है। उसी में वह शक्ति होती है कि अपने अनुकरण से संपर्क क्षेत्र वालों को अधिक श्रेष्ठ समुन्नत बना सकने में समर्थ हो सके। संसार के हर क्षेत्र में चिरस्थाई और दूरगामी सत्परिणाम उत्पन्न कर सकने वाली मनःस्थिति और परिस्थिति ऐसे

ही लोगों के हाथ लगती है। दूसरों को सुधारना-समझाना भी ऐसे ही लोगों के लिए संभव है। उसी का परामर्श विश्वस्त समझा जाता है जो अपनी कथनी और करनी को एक कर चुका हो। व्यक्तित्व को इस स्तर का बना सकना उन्हीं के लिए संभव है जिनने मानवी गरिमा के साथ जुड़े हुए नीतिनिष्ठ, समाजनिष्ठ एवं आदर्शनिष्ठ तत्वज्ञान को चिंतन और चरित्र में गहराई तक स्थापित किया है। इस प्रकार आस्था संस्थान को उत्कृष्ट बना लेना हर किसी के लिए हर प्रकार लाभदायक सिद्ध होता है। समझा जाना चाहिए कि अध्यात्म तत्त्वदर्शन से संबंधित अनेकानेक प्रतिपादन, अनुभव एवं कर्मकांड इसी एक उद्देश्य को लेकर बनाए गए हैं, जो लोक और परलोक को, प्रत्यक्ष और परोक्ष हर कसौटी पर बहुमूल्य सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। जिस आस्था संकट ने अनेकानेक समस्याओं, उलझनों, विपत्तियों, विडंबनाओं और आशंकाओं को जन्म दिया है उन्हें निरस्त करने का वास्तविक उपाय यही है कि लोकमानस को आदर्शवादी निष्ठाओं से अनुप्राणित किया जाए। हर किसी का हर प्रकार कल्याण इसी अवलंबन को अपनाने में है।

विज्ञान का दुराग्रह यह है कि उसने प्रत्यक्षवाद को ही सब कुछ मान लिया है और उसी के आधार पर हर विषय का प्रतिपादन आरंभ कर दिया है। इस आधार पर तो हर अनैतिकता को निर्दोष ठहराया जा सकता है। यदि धर्म और अध्यात्म के सिद्धांतों की अवहेलना चल पड़े तो फिर बूढ़े बैल की तरह बूढ़े बाप को भी किसी कसाई खाने में पहुँचाने में लाभ सोचा जाने लगेगा। नारी मात्र को अश्लील उपयोग का आधार मानने में कोई संकोच न होगा, शोषण-अपहरण और आक्रमण में भी कोई दोष न माना जाएगा। चूँकि पशु स्वभाव में इन्हीं बातों का समावेश है और मनुष्यों को भी जब एक पशु ही मान लिया गया तो उस पर भी उन अनुबंधों को लागू किस प्रकार किया जा सकता है, जिन्हें सभ्यता और संस्कृति के

नाम से जाना जाता है जो अब तक की सराहनीय प्रगति के लिए एकमात्र श्रेयाधिकारी भी है।

अध्यात्म का विशुद्ध दर्शन मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के आधार पर सही बैठता है और आवश्यक समझा जा सकता है। उसके साथ जुड़े हुए प्रतिपादनों और कर्मकांडों को भी इस दृष्टि से स्वीकार किया जा सकता है कि वे अंततः व्यक्ति को संयमी, अनुशासित, प्रामाणिक, सद्गुणी एवं परमार्थ-परायण बनाने की भूमिका निबाहते हैं। ऐसे उपचार भी प्रत्यक्ष के आधार पर परोक्ष को प्रशिक्षित करने की नीति के अंग ही बनते हैं और प्रत्यक्ष दृष्टि से उनकी उपयोगिता में संदेह उठने पर भी समाधान इसलिए हो जाता है कि उनका प्रभाव-परिणाम अंततः व्यक्तित्व को अधिक शालीन बनाने में सहायक होता है, जिसकी कि आज अन्यान्य प्रयोजनों की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यकता है। इस तथ्य पर विचार करते हुए विज्ञान को, अविज्ञात को भी एक विधा मानना चाहिए, जो सुविधा-संवर्द्धन की ही तरह सभ्यता और संस्कृति का स्तर बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है।

अध्यात्म दर्शन के प्रति उपेक्षा और अवमानना इसलिए नहीं बनी है कि उसके प्रतिपादन गलत हैं, वरन इसलिए विग्रह उपजा है कि उसकी आड़ में अनेकानेक अवांछनीयताओं ने अपना अड्डा जमा लिया है। अंधविश्वासों, मूढ़ मान्यताओं और अवांछनीयताओं के पक्ष में ऐसा समर्थन भी प्रस्तुत किया है जो कबीलों की गुटबंदी की दृष्टि से किन्हीं को भले ही रास आता हो, पर उसे सर्वोपयोगी नहीं कहा जा सकता। विशेषतया यह अनौचित्य तब असह्य हो जाता है जब उसमें से समन्वय की, सहिष्णुता की और मिल-जुलकर रहने की वृत्ति समाप्त हो जाती है। हमारा पक्ष शत-प्रतिशत सत्य और अन्यान्यों की मान्यता सर्वथा झूठी, इसी को मतान्धता, धर्मान्धता, असहिष्णुता आदि के नाम से पुकारा जाता है। इसी पर अड़ जाने के कारण आए दिन विग्रह खड़े होते और खून-खराबे के दृश्य नजर आते हैं। इस प्रकार प्रचलनों को

पत्थर की लकीर मानकर उनके अनुपयोगी होने पर भी अपनाने के लिए अड़े रहना भी ऐसा अनौचित्य है जिसके कारण धर्म और अध्यात्म के प्रति विरोध भाव उपजता है और उसकी उपेक्षा, हठवादिता हर विचारशीलता पर बुरा असर छोड़ती है।

निहित स्वार्थों वाले चतुर वर्ग ने अध्यात्म से संबंधित अनेक प्रचलनों को अपने ढंग से तोड़-मरोड़कर आजीविका का माध्यम बना लिया। अन्य व्यवसायों की तरह यदि धर्मधुरीण कहलाने वाले व्यक्ति अपनी सेवा का उचित पुरस्कार माँगते तो हर्ज न होता, पर अंधविश्वासों में भावुक जनों को फँसाकर उनके भोलेपन का अनुचित लाभ उठाना अखरता है और इस औचित्य के प्रति उपजा आक्रोश समूचे धर्म या अध्यात्म क्षेत्र के प्रति तिरस्कार का भाव उत्पन्न करता है और इसी कारण सीमित विरोध असीम विग्रह तक जा पहुँचता है।

विज्ञान ने सत्य की शोध को लक्ष्य बनाया है, जब भी भूल मालूम हुई है, सुधारा है। जो हस्तगत हुआ है उसे आत्यांतिक सत्य न मानकर आगे भी खोज चलते रहने की उपयोगिता को स्वीकार किया है। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर उसने इतनी प्रगति की है और भविष्य में और भी अधिक कर गुजरने की संभावना है।

यही तथ्य यदि अध्यात्म क्षेत्र में अपनाया गया होता और सत्य के अधिक निकट पहुँचने के लिए आग्रह रहित मानस बनाकर रखा गया होता तो क्रमशः निखार आता चलता और अध्यात्म को भी वह विश्वास मिला होता जो विज्ञान को उपलब्ध है।

अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का तात्पर्य यह है—मनुष्य जीवन को भौतिक और आत्मिक प्रगति का संतुलन बिठाने, मिल-जुलकर काम करने के लिए सहमत किया जाए, वैसे ही प्रचलन को जन्म दिया जाए। सत्य की शोध के लिए दोनों में समान रूप से उत्साह रहे। संभव सत्प्रगति के मार्ग में किन्हीं भी पूर्वाग्रहों को बाधक न बनने दिया जाए, इसी में सबका सब प्रकार कल्याण है।

◆

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस मथुरा।